

# मजदूर, न्यूनतम मजदूरी और सामाजिक न्याय



सचिन कुमार जैन  
विकास संवाद, मध्यप्रदेश

# 1. न्यूनतम मजदूरी – रवृटी पर टंगता न्याय

ऐसा लगता है कि मानों हम 1792 के पहले फ्रांस में शोषण के जाल में फंसे मजदूरों को एक बार फिर देखने की स्थिति में पहुंच रहे हैं। मजदूरों का यह नीति आधारित शोषण भारत में अलग-अलग स्तरों पर हो रहा है, ठेकेदार और निजी क्षेत्र को तो एक बार अलग रखकर देखते हैं तो यह भी पता चलता है कि भारत सरकार की नीतियाँ और व्यवस्था भी उन्हें समानता और शोषण से मुक्ति का अधिकार प्रदान नहीं कर रही है। भारत के अलग-अलग राज्यों में एक जैसे काम के लिए तय की गई मजदूरी में भारी अंतर दिखाई पड़ता है और तो और अफसोसजनक सच्चाई यह है कि इसी न्यूनतम मजदूरी को हासिल करने के लिये सरकार मजदूरों के लिये इतने कड़े लक्ष्य तय करती रही है कि उन्हें औसत से ज्यादा शारीरिक श्रम करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। आज तक मध्यप्रदेश जैसे कई राज्यों में समय और गति के वह अध्ययन नहीं कराये गये हैं जिनसे तय होता है कि एक व्यक्ति निर्धारित समय में श्रम करके कितना काम पूर्ण कर सकता है। उतना ही काम एक श्रमिक के लिये अधिकतम लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया जाना चाहिये। वास्तविकता में जो काम मजदूरों से करवाये जा रहे हैं वे उनकी क्षमताओं से कहीं ज्यादा नजर आते हैं।

18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रांति ने कृषि दासों को मुक्त किया। यह वही दौर था जब मजदूरों के लिये न तो श्रम करने के समय की न तो कोई सीमा तय थी, न ही यह तय था कि उन्हें कम से कम कितनी मजदूरी (कहें कि न्यूनतम मजदूरी) मिलेगी। हर तरह से मजदूर सामंतों, जमींदारों और व्यापारियों के शोषण के शिकार होते रहे। इस शोषण ने असंख्य मजदूरों की जानें तक ले लीं। फिर जब श्रमिक वर्ग (या कहें कि मेहनतकशों की दुनिया) में असंतोष फैला तब ब्रिटेन में पहली बार 1896 में फैक्टरी कानून बनाया गया जिसमें यह खाका खींचा गया कि एक मजदूर को एक सप्ताह या एक दिन में कितने घंटे श्रम करना होगा। इसी के साथ काम के एवज में न्यूनतम मजदूरी का विचार भी अस्तित्व में आया। भारत तक न्यूनतम मजदूरी की बात आने में आधी शताब्दी से ज्यादा समय लगा और 1948 में न्यूनतम मजदूरी का कानून बना।

उल्लेखनीय है कि स्तंत्रता के बाद भारत में लगभग चार दशकों तक न्यायपालिका ने समय-समय पर न्यूनतम मजदूरी के अधिकार को संरक्षित करने की पहल की। 1957 में भारतीय श्रम सम्मेलन की त्रिपक्षीय समिति की रिपोर्ट को तवज्जो देते हुये सर्वोच्च न्यायालय ने तत्कालीन परिस्थितियों पर चिंता व्यक्त की और कहा कि न्यूनतम मजदूरी तय करते समय कुछ बिन्दुओं पर संवेदनशीलता के साथ विचार किया जाना चाहिये -

- 1) एक मानक परिवार में सदस्यों के रूप में महिलाओं, बच्चों और किशोर वर्ग को शामिल माना जाना चाहिए।

- 2) न्यूनतम भोजन की आवश्यकता को तय करते समय कैलोरी ऊर्जा को आधार माना जाना चाहिये।
- 3) कपड़े की आवश्यकता को भी इसमें शामिल करें और परिवार की जरूरत के तहत 72 गज कपड़ा प्रति परिवार का मानक माना जाये।
- 4) आवास के लिये औद्योगिक आवास योजना के तहत न्यूनतम क्षेत्र के किराये की राशि को भी न्यूनतम मजदूरी में शामिल किया जाये और
- 5) ईंधन, रोशनी और अन्य खर्चों के लिये न्यूनतम मजदूरी का 20 प्रतिशत हिस्सा रखा जाये।

अपने इसी फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि नियोजकों को हर परिस्थिति में मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान करना चाहिये, यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें अपना व्यवसाय बंद कर देना चाहिये। भारत में न्यूनतम मजदूरी कानून को एक संवैधानिक अधिकार सुनिश्चित करने का जरिया माना गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने पीयूसीआर बनाम् भारतीय संघ के एक मामले में न्यूनतम मजदूरी के भुगतान न किये जाने को बेगार के बराबर माना है और उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद-23 के तहत इस पर रोक है। यह कानून व्यावहारिक प्रक्रिया में संविधान के अनुच्छेद-32 एवं अनुच्छेद-226 की परिधि में आ जाता है, जिनमें व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के बारे में प्रावधान किये गये हैं। पहले न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिये तय करने के लिए किये गये चार आधारों में सर्वोच्च न्यायालय ने बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम् भारतीय संघ (1984) के मामले में पाँचवा पक्ष जोड़ा। जिसमें यह तय किया गया कि शिक्षा-स्वास्थ्य की आवश्यकताओं, मनोरंजन, सामाजिक रीति-रिवाजों एवं त्यौहारों में शामिल होने के लिये होने वाले खर्च को भी इसमें शामिल किया जाये जो न्यूनतम मजदूरी का 25 प्रतिशत है।

भारतीय न्यायिक व्यवस्था ने संविधान की जन कल्याणकारी राज्य की भावना को मूर्त रूप देने के लिये कई महत्वपूर्ण कदम उठाये, परन्तु आज यह माना जाता है कि न्यूनतम मजदूरी कानून का पालन नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि इसमें लागत बढ़ती है और लाभ-उत्पादन कम होता है। अब मजदूरों को दिन भर के श्रम के बदले न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती है, बल्कि न्यूनतम मजदूरी उन्हें तभी मिलती है जब वे सरकार के विचारक तकनीकी विशेषकों द्वारा तय किये गये काम के लक्ष्य को पूर्ण करें। जैसे उन्हें दिनभर में 100 घनफीट की खुदाई कर मिट्टी को एक निश्चित दूरी तक फेंकने पर ही न्यूनतम मजदूरी मिलती है।

इसी तरह एक ओर तो संविधान में दर्ज मूलभूत अधिकार यह कहते हैं कि देश में सबको समानता का अधिकार है और समाज मजदूरी पाने के अधिकार हैं परन्तु 1 जनवरी 2009 को भारत सरकार द्वारा जारी नोटिफिकेशन में हर राज्य के लिये अलग-अलग मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दे दी गई। एक राज्य में न्यूनतम मजदूरी 70 रुपये है तो दूसरे राज्य में 91 रुपये और किसी अन्य राज्य में 141 रुपये। एक मायने में भांति-भांति के तरीकों से भारत में मजदूरों के

न्यूनतम मजदूरी और समानता के अधिकारों का उल्लंघन हो रहा है। व्यवस्था अब केवल मौन नहीं है बल्कि व्यवस्था इस शोषण में शामिल है और बाजार के लिये अग्रज की भूमिका निभा रही है।

## 2. शोषण है न्यूनतम मजदूरी का आधार

आमतौर पर बाजार ने खुद के शोषणकारी होने के प्रमाण तो दिये ही हैं परन्तु इसके समानान्तर सरकार ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि वह एक व्यापारिक हित की संरक्षक है और एक समग्र समाज के जीवन के प्रति उसका कोई चिंतन नहीं है। अब सरकार में हर कर्मचारी-अफसर 15000 से 90000 रुपये वेतन पायेगा, स्थाई रूप से!! परन्तु मजदूर के लिये सरकार तय करती है 91 रुपये हर रोज, वह भी साल में 40-50 दिन ही उपलब्ध होते हैं। ज्यादा से ज्यादा रोजगार गारंटी योजना में 100 का रोजगार मिलता है। भेदभाव और विसंगतियां तो मानो नीतियों और कानूनों का अंतरंग हिस्सा बन चुके हैं। यूं तो राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून पूरे देश के लिये एक ही है कि इससे मजदूरों को रोजगार का अधिकार मिलने से उनके वंचितपन में कमी आयेगी, इसमें सबको एक समान श्रम करना होगा। अब असल मुद्दा यह है कि एक समान श्रम करने के बाद भी सबको एक समान मजदूरी नहीं मिलेगी, ऐसा हमारी सरकारों ने तय किया है। 1 जनवरी 2009 को ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा जारी अधिसूचना में हर राज्य के लिये अलग - अलग मजदूरी को फिर से लागू कर दिया। जम्मू-काश्मीर और मेघालय में यह 70 रुपये प्रतिदिन है, तो वहीं दूसरी ओर उसी 1 दिन के काम के लिये हरियाणा में मजदूर को 141 रुपये, चण्डीगढ़ में 140 रुपये और अण्डमान में 139 रुपये मजदूरी पाने का अधिकार है। स्पष्ट है कि कई राज्यों में मजदूरों को आधी जरूरत पूरी करने लायक ही मजदूरी मिल पा रही है। विडम्बना यह है कि चुनावी मंचों पर भी मजदूरों के शोषण के खिलाफ को राजनैतिक बहस नजर नहीं आ रही है।

कृषि मजदूरों की राज्यवार मजदूरी दर रु./प्रतिदिन		
क्र.	राज्य	मजदूरी (रु. /प्रतिदिन)
1	असम	रु. 79.60
2	आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु	रु. 80.00
3	अरुणाचल प्रदेश	रु. 65.00 से 67.00
4	बिहार	रु. 81.00
5	गुजरात,	रु. 100.00

यह बेहद महत्वपूर्ण है कि हमारे राज्य में न्यूनतम मजदूरी को विकास और जीवन के संरक्षण के नजरिये से बेहद असंदर्भित मापदण्ड के आधार पर तय किया जाता है। यूं तो न्यूनतम मजदूरी अधिनियम की परिभाषा यह बताती है कि न्यूनतम मजदूरी से जीवन की न्यूनतम बुनियादी जरूरतें तो पूरी हो ही जाना चाहिये, इसके साथ ही मजदूरों को भी भविष्य की सुरक्षा मिलना चाहिये परन्तु वर्तमान में मध्यप्रदेश में तय 91 रुपये की यह मजदूरी एक परिवार, जिसमें लगभग 5 सदस्य शामिल होते हैं, के एक सदस्य पर 18 रुपये के दैनिक खर्च की स्वतंत्रता देती है। यानी एक सदस्य के एक समय के भोजन के लिये 8 रुपये। हम और आप यदि थोड़ा अपने दायरे से बाहर निकलकर जरा यह कल्पना करें कि यदि आपको हर रोज 18 रुपये में जिन्दगी गुजारना हो तो क्या “आत्मघात” को इससे बेहतर कोई और जरिया होगा; निःसंदेह नहीं।

आज की तारीख में कृषि मजदूर के लिये जिस मजदूरी का निर्धारण सरकार करती है, उसमें उनकी सुरक्षा या भविष्य निधि के लिये कोई अंश नहीं होता है। पिछले 20 वर्षों में यह महज एक चुनावी ख्याल रहा है, जिसे मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा के रूप में सामने रखने की कोशिश की गई है। महत्वपूर्ण संयोग यह है कि कृषि मजदूरी (जिसके आधार पर सरकार की ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना में भी श्रम का पारिश्रमिक दिया जाता है) को पूर्णतः अकुशल मजदूरी माना जाता है। एक तरफ तो हमारी व्यवस्था में जो लोग नीतियाँ बनाते हैं, वे मानते हैं कि खेती का काम करने जैसे निंदाई, गुड़ाई, सफाई, कटाई करने के लिये किसी कौशल की जरूरत नहीं होती है। दूसरी तरफ यही कृषि मजदूरी सबसे असुरक्षित आजीविका मानी जा सकती है क्योंकि कृषि क्षेत्र की नीतिगत, राजनीतिक, आर्थिक उपेक्षा कृषि को एक केन्द्रीयकृत कंपनी आधारित व्यापार बना रही है उसका सबसे पहला असर कृषि मजदूर पर पड़ता है।

	नागालैंड	
6	हरियाणा	रु. 141.00
7	हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, सिक्किम, उत्तरप्रदेश	रु. 100.00
8	जम्मू और काश्मीर, मेघालय, उड़ीसा	रु. 70.00
9	कर्नाटक	रु. 82.00
10	केरल	रु. 125.00
11	मध्यप्रदेश, मिजोरम	रु. 91.00
12	महाराष्ट्र	रु. 72 से 72.00
13	मणीपुर	रु. 81.40
18	पंजाब	रु. 93 से 105.00
22	त्रिपुरा	रु. 85.00
24	पश्चिम बंगाल	रु. 75.00
25	छत्तीसगढ़	रु. 72.00
26	झारखंड	रु. 92.00
27	उत्तराखंड	रु. 73.00
28	गोवा	रु. 110.00
29	अंदमान एवं निकोबार	रु. 130.00 से 139.00
30	दादर तथा नगर हवेली	रु. 108.20
31	दमन दीप	रु. 102.00
32	लक्ष्यदीप	रु. 115.00
33	पांडिच्चेरी	रु. 80.00 (पुरुषों के लिए 6 घंटे) रु. 70.00 (महिलाओं के लिए 5 घंटे)
34	चंडीगढ़	रु. 140.00
ग्रामीण विकास मंत्रालय अधिसूचना - 1.1.09		

फिर मानसून की कमी या बुआई की कमी या सूखे - बाढ़ के कारण पैदा होने वाली असुरक्षा की पहली, सबसे सीधी और दर्दनाक मार मजदूर पर पड़ती है क्योंकि किसी भी तरह की विपदा में उसका रोजगार छिनता है, पर कृषि मजदूरी तय करते समय जिस समीकरण को लागू किया जाता है उसमें इस पीड़ा में मजदूर को सहलाने की कोई मंशा नहीं झलकती है। जब हम यह कहते हैं कि किसी भी कारण से 30 या 40 फीसदी कृषिक्षेत्र में बुआई या रोपाई नहीं हुई, तो उसका मतलब होता है कि 30 या 40 लाख मजदूरों की रोजी-रोटी पर सीधी मार पड़ना। हमें यह मानकर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये कि चलो, उत्पादन कम होगा तो व्यापारी दूसरे राज्य से दाल, चावल, गेहूँ आयात करके बाजार में ले आयेगा और हमें उसकी केवल दो गुनी कीमत चुकानी होगी, चुका देंगे पर मसला इतना सा नहीं है। मजदूर का खाना तो खाली रह ही गया और जब बाजार की कीमते रोटी को उसकी पहुंच से और ज्यादा दूर कर देती है।

जब खेती पर संकट होता है तो वर्तमान मापदण्ड यह है कि किसान को 1200 रुपये प्रति एकड़ के हिसाब से राहत दी जाती है। फिर से जानिये यदि एक एकड़ में बुआई के बाद फसल बर्बाद हो जाती है तो राहत के रूप में किसान को 1200 रुपये दिये जाते हैं। यदि खेती का काम इतना सस्ता रह गया तो सरकार और दुनिया की हर कम्पनी को दूसरे धंधे छोड़कर केवल और केवल कृषि समुद्र में कूद जाना चाहिये, जिन्दगी तो तर ही जायेगी। किसान के साथ तो सरकार मजाक करती ही है पर मजदूर को तो वह मजाक के लायक ही नहीं समझती। मसलन कृषि के संकट में होने पर कृषि मजदूर को कोई रियायत नहीं मिलती है। बहरहाल पिछले 10 वर्षों में राहत के नाम पर जो रोजगार कार्यक्रम चले हैं, उनसे उन्हें एक वर्ष में 7 दिन का रोजगार मिला है और इन 7 दिनों की भी मजदूरी अब तक सरकार से शुरु अपना सफर पूरा करके मजदूरों तक नहीं पहुँच पाई।

आज मजदूरों के लिये जो कार्यक्रम चल रहे हैं उनमें मूल्यांकन के नाम पर इतनी बारीक नाप-तौल होती है कि उन्हें अपने हक की 91 रुपये की दैनिक मजदूरी भी नहीं मिल पाती है। अफसर, ठेकेदार और मूल्यांकनकर्ता अपने हिस्से को हासिल करने में इस कदर मशगूल होते हैं कि वे भूल जाते हैं कि उनका भ्रष्टाचार समाज के एक बड़े तबके को कुपोषित, कमजोर, विकलांग और बीमार बना रहा है। यूँ तो न्यूनतम मजदूरी कानून कहता है कि हर मजदूर को कम से कम तय की हुई मजदूरी पाने का हक है परन्तु सरकारों ने व्यवस्था ऐसी बना दी है कि व्यवहारिक संदर्भ में यह अधिकतम मजदूरी बन गई है। योजनायें कहती हैं कि यदि मजदूर अपना “टास्क” हर रोज पूरा नहीं करता है तो उसे पूरी मजदूरी नहीं मिलनी चाहिये। मुद्दे की बात यह है कि देश-दुनिया में या सरकार और निजी क्षेत्र में कहीं और अफसरान के श्रम की इतनी महीन नाप-जोख या तथाकथित मूल्यांकन नहीं होता है। किसी पुलिस अफसर की तनखाह यह जांचने के बाद जारी नहीं कि जाती है कि उसने कितने अपराध रोके, किसी जज से नहीं पूछा जाता है कि वह कितने लोगों को न्याय दिलाने का निमित्त बना। सिर्फ मजदूरों का ही निकम्मा और कामचोर माना जाता है पर यह सच विस्मृत कर दिया जाता है कि हर एक मजदूर हर रोज जिन्दगी जी

पाता है बड़ी जद्दे-जहद के बाद। उसके पास कुछ संचित नहीं है, वह कोशिश करता है कि पसीने की हर बूंद पारिश्रमिक के रूप में वापस आये पर व्यवस्था की गर्मी में वाष्पीकृत होकर गुम हो जाती है उन संभावनाओं के जंगल में।

## 3. गरीबी नहीं मिटायेगी वर्तमान न्यूनतम मजदूरी

शिवपुरी के मझेरा गांव में आज रोजगार के कोई ठोस विकल्प नहीं हैं। यहां पर अवैध पत्थर की खदानों से जबर्दस्त नुकसान होने के बाद उन्हें बन्द कर दिया गया। लोगों के पास अब रोजगार का दूसरा विकल्प रोजगार गारंटी योजना के रूप में सामने आया। इसके अन्तर्गत उन्होंने 25 दिन के काम की मांग की और उन्हें काम उपलब्ध भी कराया गया परन्तु दो दिन बाद ही उन्होंने काम पर जाना बन्द कर दिया। हाइतोड़ मेहनत के बावजूद उन्हें जो न्यूनतम मजदूरी मिल रही थी उससे वे न तो अपने परिवार का पेट भर सकते थे और ना ही स्वास्थ्य, शिक्षा और कपड़ों जैसी बुनियादी जरूरतों को पूरा कर सकते थे। यह मामला केवल मझेरा का नहीं है बल्कि हर उस गांव का है जहां लोग न्यूनतम मजदूरी पर काम करके अपनी जरूरतें पूरी करने की कोशिश कर रहे हैं।

वर्तमान न्यूनतम मजदूरी की केवल के दर और राशि में ही नहीं बल्कि सोच में ही आमूल-चूल परिवर्तन करने की जरूरत है। अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि प्रचलित न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था गरीबी को मिटाने का नहीं बल्कि बढ़ाने का काम कर रही है। मध्यप्रदेश में अभी जो न्यूनतम मजदूरी तय की गई है उससे दो वक्त का भरपेट खाना भी जुगाड़ पाना कठिन है, स्वास्थ्य, शिक्षा और आवास के अधिकार तो सपने हैं।

राज्य में मजदूरों को उनके श्रम के एवज में कितनी मजदूरी मिलेगी यह दरों की अनुसूची से तय होता है। मध्यप्रदेश में सामान्य सतह होने की स्थिति में 100 क्यूबिक फिट खुदाई को न्यूनतम लक्ष्य माना गया है जबकि कठोर मिट्टी या मुरुम होने पर 64 क्यूबिक फिट की खुदाई करने पर मजदूर को न्यूनतम मजदूरी मिलेगी, यही मापदण्ड है। दरों की यह अनुसूची वास्तव में उस स्थिति में महत्वपूर्ण मानी जाती थी जब सरकारी योजनाओं में निर्माण कार्य ठेकेदारों के जरिये संपादित कराये जाते थे। उस परिस्थिति में महत्वपूर्ण यह नहीं होता था कि मजदूरों को रोजगार मिले और वे भूख के संकट से मुक्ति पा सकें। तब मकसद निर्माण कार्य पूरा करना ही रहता था। परन्तु अब मजदूरों के हक और जनकल्याण का सिद्धान्त राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून में बहुत महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आधार है। ऐसी स्थिति में यह देखना बहुत जरूरी है कि शारीरिक रूप से कमजोर मजदूर सरकार द्वारा तय किये गये कठोर श्रम मापदण्डों के अनुरूप काम कर पायेंगे अथवा नहीं। कई दलित एवं आदिवासी समुदाय शारीरिक रूप से इतने कमजोर हो चुके हैं कि वे भारी शारीरिक श्रम कर न्यूनतम मजदूरी नहीं कमा पायेंगे। वहीं दूसरी ओर यदि मजदूरी के निर्धारण की प्रक्रिया देखें तो पता चलता है कि निर्माण कार्य की प्रगति को पूरा दिखाने के

लिये सरकार नियमों का कठोरता से पालन करती है और परिणाम यह होता है कि जिन मजदूरों को मजदूरी की बहुत जरूरत होती है उन्हें वह पूरी नहीं मिल पाती है। ऐसे में कुपोषण और भूख की यथास्थिति बनी रहती है।

पहली विडम्बना यह है कि राज्य सरकार द्वारा तय की गई दरों में भौगोलिक परिस्थितियों और क्षेत्रीय चरित्रों को कोई स्थान नहीं मिलता है। होशंगाबाद की नरम मिट्टी और बड़वानी की सामान्यतः कठोर सतहों को एक ही नजरिये से मापा जाता रहा है। जबकि व्यावहारिकता के स्तर पर देखा जाये तो पता चलता है कि मिट्टी के नरम या कठोर सतह वाले इलाकों में मजदूर उतना काम नहीं कर पाते हैं तो उन्हें आलसी माना जाता है। इतना ही नहीं जब केवल लक्ष्य को पूरा करने के बाद ही न्यूनतम मजदूरी के सिद्धान्त को भी यदि रोजगार गारण्टी कानून में प्रथमिकता दी जायेगी तो तय है कि महिलाओं को समान मजदूरी का अधिकार भी नहीं मिल पायेगा उन्हें मजदूर के श्रम के आधार पर नहीं बल्कि औरत के श्रम के आधार पर मजदूरी मिलती है। व्यापक स्तर पर महिलाओं के समानता के हक का उल्लंघन तो हो ही रहा है। ऐसी स्थिति में जरूरी है सामुदाय, भौगोलिक परिस्थितियां और जन कल्याण के सिद्धान्त के आधार पर मजदूरी तय करने की प्रक्रिया शुरू हो। इतना ही नहीं इसे बुनियादी अधिकार से जोड़कर परिभाषित किया जाना चाहिए ताकि दरों में वृद्धि हो सके।

दूसरे नजरिये से यह भी देखा जाना जरूरी है कि मजदूरी भुगतान की वर्तमान प्रक्रिया औसत से ज्यादा श्रम की मांग करती है जबकि मजदूर वर्ग का एक हिस्सा विकलांगता, कुपोषण और खाद्य असुरक्षा के संकट का सामना कर रहा है। इस वर्ग के लिये टास्क आधारित मजदूरी का भुगतान शोषण का माध्यम भर है। आज की स्थिति में श्रम के तकनीकी और मशीनीकरण के षडयंत्र को तोड़ने की जरूरत है और इसके लिये सबसे पहले मजदूरी की दरों का मानवीय नजरिये से युक्तियुक्तकरण करना होगा। मजदूरी को जितना ज्यादा उत्पादकता आधारित बनाने की कोशिश होगी उतना ही ज्यादा मशीनों को प्राथमिकता देने का सिद्धान्त प्रभावी होगा। अंततः यह स्थापित कर दिया जायेगा कि मजदूर विकास और प्रगति की गति को नहीं बढ़ा पा रहे हैं इसलिये उन्हें मजदूरी के बजाये मजदूरी का मुआवजा देकर सरकार को अपना दायित्व पूरा कर देना चाहिये। यह अपने आप में एक गंभीर संकट होगा। इसलिये यह जरूरी है कि हम रोजगार के अधिकार को सुनिश्चित करने वाले कानून का गरीबी और सामयिक परिस्थितियों में विश्लेषण करें।

हालांकि भारत का न्यूनतम मजदूरी कानून, 1948, संविधान के अनुच्छेद 43 की भावना पर खड़ा हुआ है। संविधान स्पष्ट करता है कि सरकार सभी मजदूरों को सम्मानजनक जीवन जीने के लिये जरूरी मजदूरी की दर तय करेगी। न्यूनतम मजदूरी कानून भी अपने आप में ऐसी मजदूरी तय करने की वकालत नहीं करता है जिससे मजदूर और उसका परिवार

दो वक्त पेट भर खाना भी हासिल न कर सके। कानून कहता है कि हर मजदूर को कम से कम इतनी मजदूरी तो मिलना ही चाहिए जिससे परिवार के हर वयक्त व्यक्ति को 2700 कैलोरी का भोजन, परिवार के लिये 72 गज कपड़ा, आवास की जरूरत पूरी हो सके। इतना ही नहीं रोशनी और खाना पकाने के लिये ईंधन की जरूरत पूरा करने के लिये न्यूनतम मजदूरी की 20 फीसदी राशि तय हो।

इसके बाद 1991 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक ऐतिहासिक निर्णय में कहा कि बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधायें सामाजिक समारोह आयोजित करने की क्षमता और वृद्धों की जरूरत को पूरा करने के लिये न्यूनतम मजदूरी की भेंट की 25 फीसदी राशि और जोड़ी जाये। परन्तु राज्य लगातार संविधान कानून और सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों को ताक पर रखता रहा है। वर्तमान में मध्यप्रदेश में अनुकूल श्रमिकों के लिये न्यूनतम मजदूरी 91 रुपये तय है जिसके आधार पर 90 लाख ग्रामीण परिवारों को मध्यप्रदेश ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून के अन्तर्गत 100 दिन का रोजगार देने के प्रयास चल रहे हैं। कठोर श्रम के एवज में मिलने वाली इस राशि के पांच सदस्यों के हिस्से में 18 रुपये आते हैं यानि एक वक्त के भोजन के लिये 9 रुपयें। यदि न्यूनतम मजदूरी कानून 2700 कैलोरी भोजन उपलब्ध कराने की बात करता है तो हमें यह जरूर समझ लेना चाहिये कि भरपेट भोजन के लिये ही एक व्यक्ति पर 23 रुपये खर्च करने होंगे। कपड़े, शिक्षा और स्वास्थ्य की जरूरत को जोड़ा जाये तो 15 रुपये प्रतिदिन अतिरिक्त की जरूरत होगी। इसका साफ मतलब यह है कि 190 रुपये की जरूरत को मध्यप्रदेश सरकार 91 रुपये में पूरा कर रही है। इस सम्बन्ध में एक विरोधाभास गरीबी की रेखा के सम्बन्ध में भी है। सरकार की परिभाषा के अनुसार ही 2700 रुपये प्रतिमाह से कम व्यय करने वाला परिवार भुखमरी की कगार पर है परन्तु वहीं दूसरी ओर सरकार, मजदूरों को केवल 500 रुपये प्रतिमाह की मजदूरी पर जीवनयापन करने के लिये मजबूर कर रही है। यूं तो भारत की सरकारें खुले बाजार और वैश्वीकरण का तहेदिल से स्वागत करती है। परन्तु गरीबी की रेखा के वैश्विक मापदण्डों के सामने आंखे मूंद लेती हैं। वह ऐसे मापदण्ड स्वीकार कर लागू नहीं करती हैं जो गरीबों का संरक्षण करते हो।

गरीबी की रेखा के अर्न्तगत मानक दो डॉलर यानी 100 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन का व्यय है परन्तु भारत का योजना आयोग 11 से 19 रुपये हर रोज खर्च करके व्यक्ति सम्मानजनक जीवन हासिल कर सकता है। इस नजरिये को बदलने की जरूरत है। भारत में गरीबी की रेखा वास्तव में भुखमरी की रेखा है। यह भी एक सच्चाई है कि आज हमारे जनप्रतिनिधियों को भी न्यूनतम मजदूरी की कड़वी सच्चाई का आभास नहीं है। हाल ही में संसद की स्थायी समिति ने भी न्यूनतम मजदूरी की दर पर आश्चर्य ही व्यक्त किया।

प्रदेश में इस वक्त 66.90 लाख वंचित और सीमांत मजदूर हैं। जिनमें से 45.52 लाख महिलायें हैं। इसका मतलब यह है कि न्यूनतम मजदूरी की शोषण कर रही व्यवस्था की सबसे बड़ी शिकार महिलायें ही हो रही हैं। सरकार को यह सिद्धान्त समझ लेना होगा कि जब तक मजदूरों को बेहतर मजदूरी नहीं मिलेगी तब तक उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता का विकास नहीं हो पायेगा। और इस विकास के अभाव में उनकी उत्पादकता में भी वृद्धि नहीं होगी।

वास्तव में यदि सरकार ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना का एक ऐतिहासिक कदम उठाया है तो उसे मजदूरी की दर को भी नये सिरे से परिभाषित करने की पहल करना होगी। वैसे भी यदि केन्द्र सरकार मजदूरी पर होने वाले व्यय का भार वहन कर रही है तो राज्य सरकार को अपने मजदूरों को उनके हक दिलाने की राजनैतिक कोशिश करना चाहिये। इसका भार राज्य सरकार पर नहीं पड़ने वाला है।

एक बेहतर कदम होगा यदि अब असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को भी संगठित क्षेत्र के कमकार इसलिये आज बेहतर स्थिति में हैं क्योंकि वे संगठित होकर अपने हकों के लिये लड़ते रहे है। ऐसे में संगठित हुये बिना ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून भी उन्हें संरक्षण नहीं दे पायेगा। भूमण्डलीकरण के दौर में लोकतंत्र के चारों स्तंभ बिना जनदबाव के जनमुद्दों, पर विचार नहीं करेंगे इसलिये संघर्ष की जरूरत को एक सच्चाई के रूप में स्वीकार कर लेना होगा।

## 4. सामाजिक न्याय से दूर गरीबी और भुखमरी के मसले

23 जुलाई 2001 को सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि “अदालत की चिन्ता यह देखना है कि गरीब लोग, दरिद्रजन तथा समाज के कमजोर वर्ग भूख और भुखमरी से पीड़ित न हों। इसे रोकना सरकार का एक प्रमुख दायित्व है, चाहे वह केन्द्र हो या राज्य। इसे सुनिश्चित करना नीति का विषय है, जिसे सरकार पर छोड़ दिया जाये तो बेहतर। अदालत को बस इससे सन्तुष्ट होना चाहिए और इसे सुनिश्चित भी करना पड़ सकता है कि जो अन्न भण्डारों में, खासकर भारतीय खाद्य निगम के गोदामों में, भरा पड़ा है, वह समुद्र में डुबोकर या चूहों द्वारा खाया जाकर बर्बाद न किया जाये।” इस आदेश के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने सामाजिक सुरक्षा, गरीबी और सरकार की भूमिका पर 8 सालों में 60 से ज्यादा अंतरिम आदेश दिये हैं पर कोई ऐसी सामाजिक न्याय की द्वांचागत व्यवस्था नहीं बन पाई, जो गरीबी और भुखमरी से लोगों को निजात दिला पाये।

गरीबी और भुखमरी की परिभाषा पर बड़ी बहसों के दौर में हमें अपनी सामाजिक न्याय व्यवस्था को अधिकारों के संरक्षण के लिये और ज्यादा विवेन्द्रीकृत करने की जरूरत है। हालांकि अब तक यह सिद्धान्त रहा है कि जनमुद्दों पर व्यवस्थागत बदलाव के लिये या अपने बुनियादी अधिकारों के संरक्षण के लिये देश का नागरिक जनहित याचिका के तहत केवल उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालयों की शरण ले सकता है। जनहित के इन सवाल को जिला आदालतों में महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है। मसला महज नये केसों का नहीं है बल्कि रोजगार, पोषण और सामाजिक सुरक्षा के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले 8 सालों में 55 आदेश दिये हैं। जिनमें यह सुनिश्चित किया गया है कि आंगनवाड़ी कार्यक्रम, मध्याह्न भोजन, सामाजिक सुरक्षा पेंशन, परिवार और मातृत्व सुरक्षा और रोजगार योजना का लाभ उनकी मूल मंशा के साथ क्रियान्वयन किया जाये।

वर्तमान स्थिति यह है कि इन योजनाओं का सम्बन्ध 55 करोड़ व्यक्तियों से है और क्रियान्वयन के सम्बन्ध में करोड़ों शिकायतें। आज व्यवस्था यह है कि यदि कोई शिकायत है तो हितग्राही या तो फिर विभाग के पास जाये, जिसकी कोई विश्वसनीयता नहीं बची है और दूसरा विकल्प यह है कि वे उच्च या सर्वोच्च न्यायालय जायें, जो उनसे कई मायनों में दूर है। इन परिस्थितियों में यहां लगता है कि जिला अदालतों को ज्यादा सशक्त बनया जा सकता है। जो केसों को लेकर उनके विश्लेषण करके सरकार को, खासतौर पर कार्यपालिका

को आदेश दे सकते हैं। यह माना जा सकता है कि सिविल प्रक्रिया संहिता में इस तरह के अधिकारों के मामलों में जिला अदालतें दखल नहीं दे सकती हैं परन्तु चूंकि सर्वोच्च न्यायालय ने खाद्य सुरक्षा, पोषण के अधिकार, भुखमरी से मुक्ति और सामाजिक सुरक्षा के संदर्भ में जो आदेश दिये हैं उन्हें भी संदर्भ कानून के बराबर माना जाता है। अतः उनके क्रियान्वयन की जिम्मेदारी जिला अदालतें ले सकती हैं, हर अधिकार या जिम्मेदारी दी जायेगी, इसका इंतजार नहीं किया जाना चाहिए।

स्वयंसहायता समूहों के द्वारा मध्याह्न भोजन का काम कराया जा रहा है वह उन्हें स्थानीय प्रशासन एवं स्कूल विभाग का सहयोग नहीं मिलता है या उनका भुगतान बिना भ्रष्टाचार के नहीं होता है। अब चूंकि यह भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे की तरफ बह रहा है। इसलिये स्वयंसहायता समूहों को बड़ी मदद शिकायत निवारण के अन्य तंत्रों से नहीं मिलती है और हर प्रकरण में वे उच्च न्यायालय नहीं जा सकती है। इन परिस्थितियों में मध्याह्न भोजन का क्रियान्वयन प्रभावित होता है तो जरूरी है कि स्थानीय स्तर पर एक ऐसी व्यवस्था बने जो उस योजना के क्रियान्वयन में आ रही दिक्कतों को दूर कर सके जिसका जुड़ाव बच्चों के अधिकारों से जुड़ा हुआ है। यह साबित हो चुका है कि मध्याह्न भोजन अब बच्चों के पोषण और शिक्षा, दोनों अधिकारों के लिये महत्वपूर्ण है तो यह बेहद जरूरी है कि जिला स्तर पर न्यायालयीन व्यवस्था में इन योजनाओं और अधिकारों के सवाल को हल किया जा सके।

यह एक उल्लेखनीय पहलू है जिसमें बदलाव होना चाहिये। वह पहलू यह है कि जिला अदालतों या जिला न्याय व्यवस्था यह मानते हैं कि उन्हें संविधान की मूल भावना को केन्द्र में रखने या उसे पढ़ने की जरूरत नहीं है। वे अपराध प्रक्रिया संहिता या सिविल प्रक्रिया संहिता की तकनीक के आस-पास ही टहलते हैं। अब यह बेहद जरूरी है कि हमारी न्यायिक व्यवस्था में संविधान और नागरिक अधिकार कानूनों का बहाव समाज की सबसे सूक्ष्म इकाई या कहें कि वचित तबके तक पहुंचे।

हमें अधिकारों के हनन को वर्तमान व्यवस्था में चार अलग-अलग किन्तु एक दूसरे के साथ कड़ी में जुड़े हुये स्तरों पर देखने की जरूरत है। सबसे सूक्ष्म स्तर पर वह समुदाय है जिसे राज्य के संरक्षण की जरूरत है या यह कहें कि खाद्यान्न, सामाजिक सुरक्षा या रोजगार योजनाएं उनके जीवन की नदी में झिर का काम करती है। पर व्यवस्था में भेदभाव, बहिष्कार और भ्रष्टाचार के चलते उनका विश्वास राज्य में नहीं रह गया है। उनके साथ सीधे जुड़ता है। वह प्रशासनिक स्तर, जो संविधान की मंशा को समाज तक ले जाने के लिये जवाबदेय हैं, परन्तु चूंकि समाज और राजनीति दोनों ही उनके नकारापन और

भ्रष्टाचार के खिलाफ खड़े नहीं होते हैं तो यह अफसरशाही बेलगाम तरीके से गैर जवाबदेय होती गई है। इस स्तर के ऊपर हैं वे ढांचे जो नियम-कानून बनाते हैं। अब चूंकि ये ढांचे समाज से दूर होते गये हैं इसलिये ज्यादातर नीतियाँ-कानून ही लोगों के जीवन के अधिकार की खिलाफत करने वाले लगते हैं। और चौथे स्तर पर है न्यायिक व्यवस्था, जिसके पास लोग तब जाते हैं जब बाकी के तीन स्तरों से वे निराश हो जाते हैं। अब यदि न्याय व्यवस्था लोगों के अधिकारों के मसले में समाज से कई कोस दूर हो तो अफसरशाही को तो निरंकुश होना ही है। हमारे यहां यही हुआ है। आज जरूरत इस बात की है कि हम अधिकारों के सवाल के निराकरण के लिये न्याय व्यवस्था को ग्रामसभा और जिला स्तर पर ताकतवर बनायें। उसमें लोगों को खड़े होने के लिये विश्वास दें, इससे ही उनका लोकतंत्र और संविधान में एक बार फिर विश्वास पैदा होगा। हमारे यहां जो सामाजिक-आर्थिक विसंगतियाँ हैं उन्हें पाटने के लिये जरूरी है कि वंचित तबकों को सामाजिक-आर्थिक संरक्षण राज्य की तरफ से मिले, जिसे न्याय व्यवस्था के जरिये संरक्षित किया जाये।

## 5. न्याय व्यवस्था से क्यों है बाहर रोजगार गारण्टी का कानून?

झारखण्ड के लातेहार शहर में जब राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना के तहत मजदूरों की समस्याओं के निराकरण के लिये देश में पहली बार लोक अदालत लगी तो 21 हजार लोग आये और 21 हजार शिकायतें। हालांकि यह सच है कि वहां समुदाय के सबसे वंचित तबकों का प्रतिनिधित्व करने वाले मजदूरों ने अफसरों को बर्खास्त करने, गिरफ्तार करने और 25-25 हजार रुपये का जुर्माना लगाने की मांग की, ये मांगे तो सरकार ने नकार ही दी, परन्तु बेरोजगारी भत्ता और मजदूरी के भुगतान न होने पर मुआवजा दिये जाने के मामले भी बबेहद हल्के ढंग से लिये गये। लोक अदालत के इस अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि सामाजिक अधिकारों और जन कल्याणकारी योजनाओं से जुड़े विषयों पर न्यायिक व्यवस्था को उस स्तर पर सशक्त और धारदार बनाने की जरूरत है, जो गांव, समाज और वंचितों के सबसे करीब हो।

यह तर्क स्वाभाविक रूप से उठकर आ रहा है और आयेगा कि कल्याणकारी अधिकारों के मुद्दों का संज्ञान लिये बिना ही आज जिला अदालतें लाखों-प्रकरणों के बोझ तले दबी हुई हैं। देश में चल रहे कुल मामलों में से 87 प्रतिशत जिला अदालतों के तहत दर्ज है, इनमें से 74 प्रतिशत मामले आपराधिक हैं। यह भी आश्चर्यजनक तथ्य है कि जिला स्तर पर अदालतों में अब सबसे ज्यादा प्रकरण धारा-138 (जिसमें किशतों का भुगतान न होने पर केस दर्ज होते हैं) या धारा-498-ए (जिसमें चैक बाउंस होने के प्रकरण दर्ज होते हैं) के तहत दर्ज होते हैं। अब कोई बताये कि सामाजिक न्याय का लक्ष्य हासिल करने में ये दो धारार्यें कितना योगदान देती हैं। अब हमारा तर्क यह है कि जिला न्यायिक व्यवस्था को जरा सामाजिक न्याय व्यवस्था का हिस्सा बनाइये। बाजार और बाजारु प्रतिष्ठान जिस तरह के चरित्र के साथ काम कर रहे हैं, उसमें न्यायपालिका का जनहित के खिलाफ उपयोग किया जा रहा है और यह व्यवस्था सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को नजरअंदाज कर रही है।

गरीबी और सामाजिक न्याय विषय पर मुझे पिछले दिनों एक ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसमें लगभग 100 जिला अदालतों के न्यायाधीश शामिल

थे। जब उनसे पूछा गया कि वे गरीब और वंचित व्यक्तियों के मामलों को कैसे हल करते हैं, क्या वे कोई सहानुभूति या मानवीय संवेदना को सामने रखते हैं क्या? तो उनका जवाब उनके कठोरपन को दर्शा रहा था, उन्होंने कहा-नहीं। हम तो संवेदना निरपेक्ष हैं, यदि हम सहानुभूति रखेंगे तो हम निष्पक्ष कैसे होंगे? उन्होंने कभी कोई ऐसे प्रकरण भी दर्ज नहीं किये हैं जो सामाजिक न्याय को परिभाषित करते हों। जमीन के मामले भी उनके पास नहीं आते हैं क्योंकि राजस्व के मामले जिला कलेक्टर की अदालत में जाते हैं। एक बात यह भी है कि जिलों में सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में जितनी तवज्जो जिलाधीश और पुलिस अधीक्षक को मिलती है, उतनी किसी भी मामले में जिला न्यायाधीश को नहीं मिलती है क्योंकि वहां जिला न्यायालय को सामाजिक अधिकारों से जोड़कर देखा ही नहीं गया। वहां अधिकार का मामला तभी आता है जब अपराध में बदल जाता है इससे पहले नहीं। अतः जरूरी है कि सामाजिक न्याय के संदर्भ में व्यवस्था को थोड़ा और व्यावहारिक और विश्वसनीय बनाया जाये। अब राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी कानून (2005) भारत के किसी भी गांव में रहने वाले व्यक्ति को एक साल में कम से कम 100 दिन का रोजगार सरकार से हासिल करने का कानूनी अधिकार देता है। इसमें व्यक्ति काम की मांग करेगा और मांग के 15 दिन के भीतर सरकार (विभाग और ग्राम पंचायत के जरिये) उन्हें रोजगार की उपलब्धता सुनिश्चित करायेगी। यह एक कानूनी प्रावधान है परन्तु पिछले तीन सालों के अनुभव यह साफ बताते हैं कि इस प्रावधान का उल्लंघन होने पर कार्रवाई का अधिकार भी सरकारी अफसरान (जैसे पंचायतों के बड़े साहब-मुख्य कार्यपालन अधिकारी या जिले पर कलेक्टर साहब को) को ही दे दिया गया है। जिन्हें किसी भी तरह से निष्पक्ष नहीं माना जा सकता है।

मध्यप्रदेश में 'सेन्टर फॉर एन्वयर्नमेन्ट एण्ड फूड सिक्योरिटी' के अध्ययन से पता चला कि आधे से ज्यादा लोगों को मांग करने पर भी काम नहीं मिला। यानी शुरू से ही कानून का उल्लंघन हुआ। फिर कानून कहता है कि जिसे काम नहीं दिया जायेगा उस मजदूर को बेरोजगारी भत्ता मिलेगा। मध्यप्रदेश में पिछले तीन वर्षों में 16 लाख मजदूरों को निर्धारित अवधि में काम नहीं मिला पर अब तक बेरोजगारी भत्ता दिये जाने का केवल उदाहरण हमारे सामने आ पाया है, जहां बड़वानी के एक जन संगठन 'जागृत आदिवासी दलित संगठन' के संघर्ष के बाद आदिवासी मजदूरों को बेरोजगारी भत्ता वर्ष 2007 में मिला। इसके बाद मध्यप्रदेश में बेरोजगारी भत्ता दिये जाने का कोई मामला नहीं दिखता। श्योपुर जिले के कराहल में 150 से ज्यादा मजदूर 2 साल से बेरोजगारी भत्ते की मांग कर रहे हैं पर मानों सरकार ने तो कानून के इस प्रावधान को धता बताने की ठान रखी है। इन गांवों में कुपोषण के कारण बच्चों की खूब मौतें हुईं परन्तु सरकार ने रोजगार गारण्टी कानून की मंशा को लाल-फीते वाली फाईल से बाहर नहीं निकलने दिया।

इसी तरह भोजन का अधिकार अभियान मध्यप्रदेश द्वारा कराये गये जमीनी अध्ययनों से पता चला कि 9 जिलों में से एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला जहां काम करने के बाद कानूनन एक सप्ताह के भीतर मजदूरी का भुगतान हुआ हो। इस प्रावधान को भी खूब दरकिनार किया गया। फिर बात आती है समुदाय की योजना बनाने में सहभागिता की यह भी नहीं हो पाया। कानून ग्रामसभा को हर छह माह में रोजगार गारण्टी योजना के कार्यक्रमों का सामाजिक अंकेक्षण करने का अधिकार और जिम्मेदारी है पर मध्यप्रदेश में ग्रामसभा को पीछे धकेल कर इसके लिये गैर सरकारी संस्थाओं को अनुबंधित कर दिया। इस तरह एक लम्बी श्रंखला है जो यह साबित करती है कि कार्यक्रम तो चल रहा है पर कानून महत्वहीन है। यह सोच रोजगार गारण्टी कानून के लिये एक बड़ा खतरा है। हमें यह मानना होगा कि जिस प्रशासन, विभाग या सरकार की जिम्मेदारी कानून के क्रियान्वयन की है, वह विसंगतियों के मामले में निरपेक्ष नहीं होगा। वह तंत्र अपने हिस्सों को बचाने की कोशिश जरूर करेगा - एक मंशा के तहत।

अब सवाल यह उठता है कि फिर क्या हर मजदूर उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय जायेगा? निःसंदेह नहीं। चूंकि रोजगार का अधिकार एक कानूनी मामला है इसलिये यह सुनिश्चित किया जाना चाहिये कि विकासखण्ड और जिला स्तर पर रोजगार गारण्टी कानून के तहत मामलों का दो तरह से संज्ञान लिया जाये। किसी भी शिकायत के साथ और स्वतः संज्ञान (जैसे- अखबार की खबर के आधार पर)।

मध्यप्रदेश के खास संदर्भ में यह देखा गया है कि ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून के तहत भ्रष्टाचार और गड़बड़ियों के मामले पंचायती राज अधिनियम की धारा-40 के तहत प्रकरण दर्ज करके पदों से हटाया जा रहा है। इन कार्यवाहियों का सबसे गहरा नकारात्मक प्रभाव दलित, आदिवासी और महिला सरपंचों पर पड़ता नजर आता है। महत्वपूर्ण यह है कि धारा-40 के तहत मध्यप्रदेश में एक नौकरशाह को अधिकार है कि वह चुने हुये जनप्रतिनिधि (यानी सरपंच) को पद से हटा दे। नरेगा के मामले में कई जगहों पर यह देखा गया है कि वंचित तबकों या निरक्षर सरपंचों को कुछ लोगों ने मोहरा बनाकर भ्रष्टाचार किया, पर अपराध अंकित हुआ उन सरपंचों के माथे पर। अब सवाल यह है कि कितने सरपंच ऐसे मामलों में उच्च न्यायालय तक गुहार लगा सकते हैं? कितने मजदूरों को यह विश्वास करना चाहिये कि वास्तव में उनके कानूनी अधिकार को वास्तव में कानूनी संरक्षण मिलेगा। अब बड़ी चुनौती है कि कानून के प्रति समाज की श्रद्धा और विश्वास बना रहे। इसके लिए हमें अपनी स्थानीय न्याय व्यवस्था को सहज, लोगों के करीब लाने और संवेदनशील बनाने की जरूरत है।

## 6. रोजगार गारण्टी कानून और मजदूर यूनियन की संभावनायें

एक समय ऐसा लग रहा था मानो गुजरात के गोधरा जिले में मानो रोजगार गारण्टी कानून की आत्मा भी जन्म ले रही है। रोजगार को एक संवैधानिक हक के रूप में स्वीकार करने की वकालत करने वाले हमेशा से यह मानते रहे हैं कि इस कानून से न केवल रोजगार और मजदूरी का अधिकार मिलेगा वरन् असंगठित क्षेत्र को संगठित करने के लिये भी यही कानून सबसे अहम् भूमिका भी निभायेगा। गुजरात राज्य के छह जिले रोजगार गारण्टी कानून के अन्तर्गत चुने गये हैं। इस राज्य को हमेशा चमकते भारत का प्रतिनिधित्व करते देखा गया है। उदारवाद के समर्थक विशेषज्ञ इसे आधुनिक विकास के तीर्थक्षेत्र के रूप में पेश करते रहे हैं। गुजरात को ही सामने रखकर यह बताया जाता रहा है कि आलीशान इमारतें, सपाट सड़कें, भारी उद्योगों की स्थापना से गरीबी को मिटाया जा सकता है परन्तु वास्तव में इस विश्लेषण के इस यथार्थ को छिपाया गया कि पर्यावरण के विनाश और सामाजिक द्वेष भाव की जिस नई परम्परा को वहां जन्म मिला है उससे लोकतांत्रिक समाज के लिये नये संकट भी पैदा हुए हैं। दुःखद तथ्य यह है कि यह संकट ज्यादा खतरनाक है। भारत के अन्य राज्यों की ही तरह गुजरात में भी 2 फरवरी 2006 से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून लागू हुआ और पांच माह की अवधि में ही वहां विकास के रंगीन पर्दे के पीछे छिपी गरीब मजदूरों के शोषण की कहानी सामने आने लगी। यहां व्यापक रूप से मजदूरों को रोजगार गारण्टी कानून और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के उल्लंघन के कारण शोषण का सामना करना पड़ा।

साबरकांठा जिले के बलिसाना गांव में 700 मजदूरों ने 14 फरवरी से 18 दिन तक हाइतोड़ मजदूरी की। राज्य में रोजगार गारण्टी कानून के अन्तर्गत काम करने वाले मजदूरों को यह आश्वासन दिया गया था कि उन्हें 35 रुपये रोज मजदूरी मिलेगी किन्तु जब मई के अंतिम सप्ताह में अलग-अलग कार्य स्थलों पर भुगतान किये गये तब मजदूर अचंभित रह गये क्योंकि उन्हें केवल चार से सात रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मजदूरी दी जा रही थी। इतना ही नहीं व्यापक स्तर पर रोजगार कानून के सबसे अहम् प्रावधानों (जैसे सात से पन्द्रह दिन के भीतर अनिवार्य रूप से मजदूरी का भुगतान, महिलाओं को समान मजदूरी, बच्चों के लिये झूलाघर और मजदूरों के काम की सही माप करना) का हर कदम पर उल्लंघन किया गया। केन्द्र सरकार द्वारा बनाये गये कानून का प्रावधान यह सुनिश्चित करता है कि मजदूरों को दी जाने वाली न्यूनतम मजदूरी 60 रुपये प्रतिदिन से कम नहीं

होगी परन्तु राज्य सरकार ने यहां भी तुगलकी रवैया अख्तियार किया और मजदूरों के कानूनी हक छीने। ऐसे में पहले मजदूरों ने कानून और राज्य की योजना के प्रावधानों के अनुसार व्यक्तिगत स्तर अपने हकों की मांग की परन्तु जल्दी ही वे समझ गये कि संगठित हुये बिना उन्हें अधिकार नहीं मिल पायेंगे। तब इन जिलों में मजदूरों ने आपस में चर्चा करना शुरू की। अंततः गोधरा में लगभग साढ़े पांच हजार मजदूर इकट्ठा हुये और यहां राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना मजदूर यूनियन का निर्माण हुआ।

मूलतः रोजगार गारण्टी कानून के सार्थक क्रियान्वयन के लिये ईमानदार राजनैतिक प्रतिबद्धता होना एक जरूरी शर्त है। यह शर्त समाज में बेरोजगारी की परिस्थितियों में बदलाव लाने में क्या भूमिका निभा सकती है इसे मध्यप्रदेश और गुजरात का तुलनात्मक विश्लेषण करके महसूस किया जा सकता है। मध्यप्रदेश की ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना में 18 जिलों के 43 लाख परिवार शामिल हैं और इन सभी परिवारों का पंजीयन भी हो चुका है और रोजगार कार्ड भी जारी किये जा चुके हैं। यहां प्रयास कागजी कार्रवाई तक सीमित नहीं हैं प्रदेश में 18 लाख से ज्यादा मजदूरों को 61.37 रुपये की दर पर मजदूरी तो मिल ही रही है साथ ही 20 हजार से ज्यादा सड़कों, तालाबों और अन्य सामुदायिक संरचनाओं का काम पूरा हो चुका है। राज्य में पलायन में 40 प्रतिशत की कमी आई है और खुले बाजार में होने वाला शोषण भी कम हुआ है। परन्तु वहीं दूसरी ओर गुजरात में रोजगार योजना के छह जिलों में बसे लगभग 70 लाख परिवारों में से केवल सवा सात लाख परिवारों का ही पंजीयन हो पाया है और इनमें से भी कुछ को ही रोजगार कार्ड जारी किये गये हैं। राज्य में अब तक योजना के सम्बन्ध में पुख्ता दिशा निर्देश जारी नहीं हुये हैं न ही सम्बन्धित अधिकारियों- जनप्रतिनिधियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम हुये हैं।

ऐसी परिस्थितियों में विश्लेषण के बहुत सारे पक्ष हो सकते हैं परन्तु सबसे अहम् पक्ष यह है कि क्या वास्तव में देश के असंगठित क्षेत्र में काम करके हर रोज शोषण का शिकार होने वाले मजदूर संगठित होकर अपने हकों को हासिल और इस्तेमाल कर पायेंगे। इतिहास इस बात का गवाह है कि कभी भी कोई भी अधिकार तब तक बेमानी है जब तक कि उसे उसकी मूल भावना के साथ उपयोग न लाया जाये। जब रोजगार गारण्टी कानून के लिये जनसंघर्ष चल रहा था तब उसके संघर्ष का सबसे अहम् आधार वक्तव्य यही था कि देश की कुल कार्यशील जनसंख्या का 93 फीसदी हिस्सा असंगठित मजदूर वर्ग के लिये न तो सरकारी संरक्षण है न ही किसी कानून का सहारा। और चूंकि ये असंगठित हैं इसलिये राजनैतिक संघर्ष के अवसर भी शून्य ही हो जाते हैं। अपेक्षा यही थी कि रोजगार गारण्टी कानून से लोक आधारित विकास सही दिशा मिलेगा और यदि इस कानून के क्रियान्वयन

की दिशा भटकेगी तो मजदूरों को संगठित होकर कानूनी रूप से इसे सही दिशा देने का अधिकार भी मिलेगा। गुजरात में यही हुआ भी है।

यह सही है कि कानून स्पष्ट रूप से न्यूनतम मजदूरी की परिभाषा, कम से कम सौ दिन के रोजगार की गारण्टी, बेरोजगारी भत्ते, कार्यस्थल पर पीने के पानी, बच्चों के लिये झूलाघर, प्राथमिक चिकित्सा के अधिकार की बात करता है परन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था में वंचितों का शोषण बिना फायदे के भी किया जाता है ताकि ताकतवर का भय बना रहे। और इसी भय के वातावरण को बनाये रखने के लिये सरकारी तंत्र, राजनीति के नेता और समाज के दबंग इन प्रावधानों को नहीं लागू होने देना चाहते हैं। वे स्पष्ट हैं कि मजदूर को सशक्तिकरण का अहसास नहीं होना चाहिए।

इतना ही नहीं पहली मतबा कोई कानून जनसंघर्ष की महत्ता को न केवल स्वीकार कर रहा है बल्कि सामाजिक अंकेक्षण और पारदर्शिता के प्रवधानों के रूप में उसे वैधानिक रूप भी प्रदान करता है। बहरहाल कानून तो बन गया किन्तु कानून बन जाना इस बात की गारण्टी नहीं है कि मजदूरों को उनका हर हक थाली में सजाकर परोस दिया जायेगा। सामाजिक सामाजिक अंकेक्षण केवल भ्रष्टाचार को नियंत्रित नहीं करेगा बल्कि गांव में सामाजिक सत्ता के समीकरणों को भी पलट कर रख देगा। जब कानून यह कर सकता है तो इसका साफ मतलब यह है कि बिना संगठित हुये कानून को मूल भावना के साथ लागू कर पाना संभव नहीं है। हम बेरोजगारी भत्ते का साधारण सा उदाहरण ले सकते हैं। कानून कहता है कि व्यक्ति के रोजगार मांगने की तारीख से 15 दिन की अवधि में यदि सरकार ने रोजगार नहीं दिया तो अगले दिन से उसे बेरोजगारी भत्ता देना होगा। यह बहुत स्पष्ट रूप से लिखा गया है परन्तु जब नियम बने तो 11 ऐसी बाधायें खड़ी कर दी गईं जिनके कारण बेरोजगारी भत्ता पाना लगभग असंभव हो गया है। सरकार भी कहती है कि यदि पूरे गांव को काम नहीं मिला और वे बेरोजगारी भत्ता चाहते हैं तो सरकार स्वप्रेरणा से बेरोजगारी भत्ता नहीं देगी बल्कि उन्हें इसके लिये भी आवेदन देना होगा और भत्ते की पात्रता सिद्ध करना होगी। इतना ही नहीं पूरा गांव इसके लिये एक साथ संगठित होकर आवेदन नहीं करेगा बल्कि हर व्यक्ति को अपना अलग आवेदन देना होगा। एक-एक व्यक्ति यदि एक-एक स्वार्थ को पूरा करने की प्रक्रिया में जायेगा तो इस कानून के कोई मायने नहीं होंगे। निजी हकों को संगठित हकों में और निजी प्रयासों को संगठित रूप देने का सिद्धान्त ही समाज में बदलाव ला पायेगा। रोजगार गारंटी योजना में मजदूरी के सवाल पर शोषणकारी व्यवस्था बनने की व्यापक संभावनायें हैं। अनुभव यह सिद्ध कर रहे हैं कि लक्ष्य आधारित (टास्क आधारित) मजदूरी निर्धारण होने के कारण मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल पा रही है। अभी एक-एक मजदूर अपनी मजदूरी का सवाल बहुत ही

निजी स्तर पर उठाकर शांत हो जाता है। भ्रष्टाचार और शोषण करने वाले जानते हैं कि मजदूरों की आवाज संगठित नहीं है। इसलिये वे थोड़ा जोखिम उठाने से पीछे नहीं हटते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में जब मजदूरी का सवाल हर मजदूर का सवाल बनेगा तो यह तय है कि उस आवाज को दबाया नहीं जा सकेगा।

सामाजिक अंकेक्षण न केवल सवाल-जवाब करके जांच-पड़ताल करने की एक प्रक्रिया है बल्कि एक तरह की न्यायिक प्रक्रिया है जिसमें भ्रष्टाचार और विकास की परिभाषा को विकृत करने वालों की जवाबदेही तय करने के साथ-साथ उन्हें दण्डित किये जाने की भी व्यवस्था है। सीधी सी बात है कि भ्रष्टाचार वह करता है जिसका प्रक्रिया पर नियंत्रण होता है। और प्रक्रिया पर नियंत्रण ताकतवर का होता है। यह ताकत राजनीति की हो सकती है, जाति की हो सकती है या धन-बल की। जब हम यह अपेक्षा करते हैं कि ग्रामसभा और मजदूरों की निगरानी समिति सामाजिक अंकेक्षण को भ्रष्टाचार को रोकें; तब सवाल यह उठता है कि क्या बिना संगठन के सामाजिक अंकेक्षण के कानूनी प्रावधान को भी लागू किया जा सकता है। निश्चित रूप से संगठनों के निर्माण से सामाजिक संघर्ष के प्रयासों को एक ठोस आधार मिलेगा। लोक निर्माण विभाग से एक मजदूर मस्टररोल की कॉपी चाहकर भी हासिल नहीं कर सकता है परन्तु मजदूरों की यूनियन संगठित रूप से तमाम दस्तावेज हासिल कर सकती है। एक तरह से संगठन सत्ता के समीकरण बदल देता है। मजदूर यूनियनों का दायरा केवल मजदूरी या बेरोजगारी भत्ते तक ही सीमित रखकर नहीं देखा जाना चाहिए। मसला रोजगार गारंटी योजना के अन्तर्गत निर्मित होने वाली स्थाई सम्पत्तियों पर समुदाय के अधिकार का भी नहीं है। संभवतः ग्रामसभा और पंचायतें वहां बनने वाली सम्पत्तियों की मालिक होंगी और संगठन इस मालिकाना हक को हासिल करने के लिये ग्रामसभा की मदद कर पायेंगे।

संगठन निर्माण की संभावनाओं को ट्रेड यूनियन के रूप में चरितार्थ किया जा सकता है। हमें यह भी देखना होगा कि कहीं स्वयं सहायता समूहों की अवधारणा के जाल में मजदूरों के समूह न जा फंसे। आय बढ़ने के कारण स्वयं सहायता समूहों को अब ज्यादा सक्रिय करने की कोशिशें की जायेगी और उन्हें ही मजदूरों के संगठन के रूप में परिभाषित किया जायेगा। हमें स्पष्ट रहना होगा कि मजदूरों का अपने हकों के संघर्ष के लिये संगठित होने की जरूरत है; जबकि बाजार अब तीस करोड़ नये उपभोक्ताओं का इंतजार कर रहा है।